आश्रय

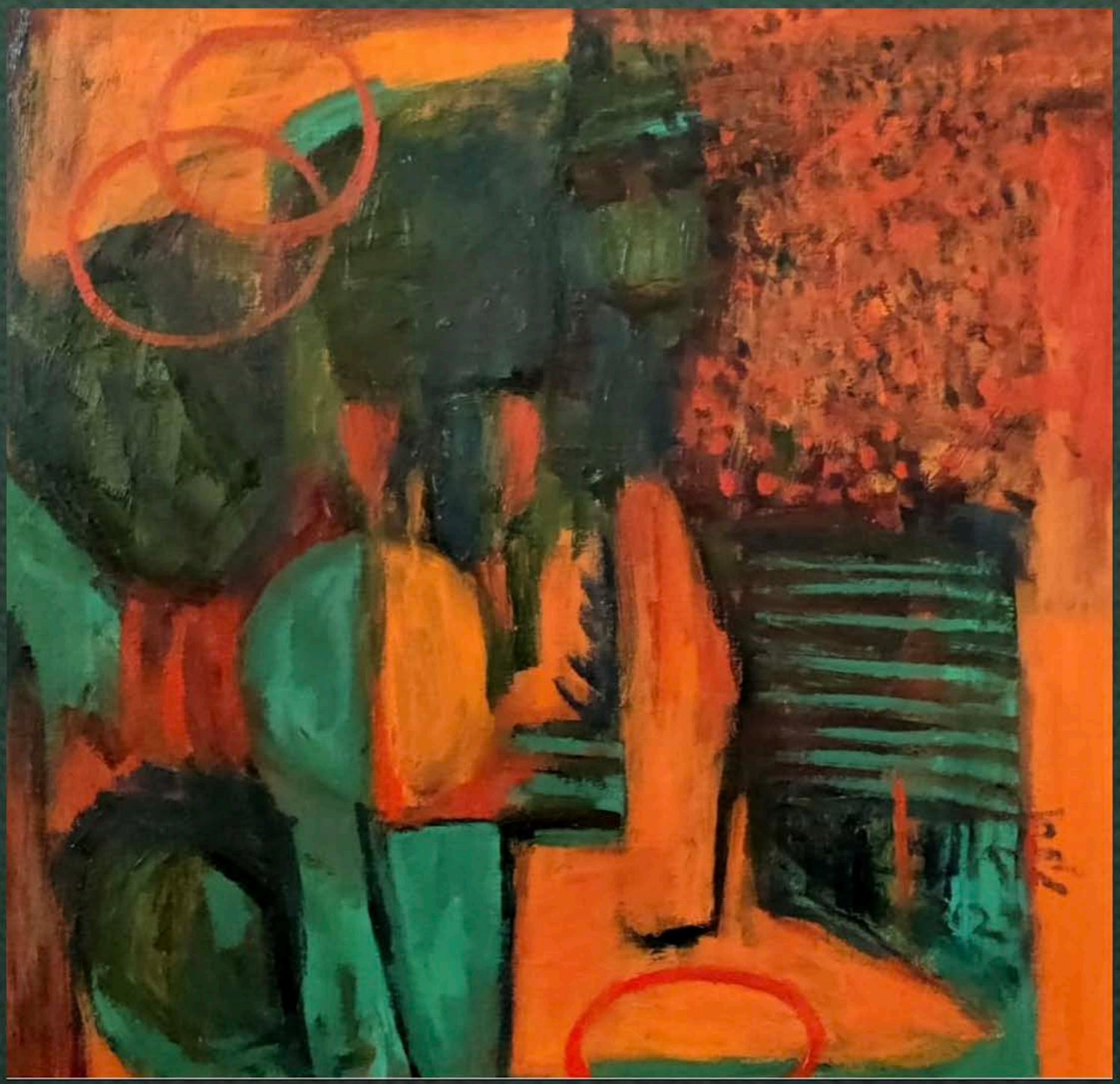

शर्मिला जालान

आश्रय

शर्मिला जालान

प्रकाशक: नॉटनल

प्रकाशन: जनवरी, 2025

© शर्मिला जालान

अनुक्रम

आश्रय	3
माँ मार्च और मृत्यु	15
मरुस्थल	35
सुरंग	41
प्रार्थना	54
संताप	65
एक अलग उजास में	84

आश्रय

मैं एक बात को बार-बार, तीन बार, कभी-कभी तो चार बार बोलता हूँ। चार बार ही क्यों शायद चार बार से ज्यादा। बार-बार बोलता हूँ। बार-बार बोलता हूँ फिर भी लगता है एक बार और बोलूं। मेरी पत्नी नेहा कहती है, "समझ गयी, बार-बार क्यों कहते हो।" वह झुंझला जाती है। वह बेचारी भी क्या करे। कितना सुने। मेरी माँ भी तो एक बात को अनेक बार बोलती है। मैं नेहा को समझा नहीं पाता कि एक बात को बार-बार बोलकर मैं उस बात को बार-बार समझता हूँ। बार-बार उसमें नई बात नया रंग देखता हूँ। वैसे ही जैसे कोई गायक अपनी एक पंक्ति को कई बार कई ढंग से कई रंग में गाता है। वह खींझती है, उकता जाती है। मैं उसे समझा नहीं पता और माँ को समझाने की जरूरत नहीं पड़ती। तभी तो मैं और माँ जब बात करने बैठते हैं, पता ही नहीं चलता समय कहाँ से कहाँ जा भागता है।

मैं माँ से सब बात करता हूँ। मुझे उससे बात करना अच्छा लगता है। वह मेरी बहुत सारी बात बिना बोले ही समझ जाती है। नेहा कहती है, "माँ से भी क्या कोई बहुत बात कर सकता है। माँ बहुत बोर करती है।" उसका इशारा मेरी माँ की तरफ न होकर दुनिया भर की उन माँओं की तरफ होता है, जिन्होंने सिर्फ पारिवारिक जीवन गुजारा है। जो हर विषय पर बात नहीं कर सकतीं। वैसे नेहा भी अपनी माँ से खूब बात

करती है, फिर भी कहती है, "उफ़, माँएं कुछ नहीं समझतीं।" उसका यह भी कहना है कि जितना माँ समझती है उतना कोई और इन्सान नहीं समझता, पर वह बिंदू भी आता है जब माँ का बातों को समझना ख़त्म हो जाता है। यह नेहा की सोच है। यह समझ उसे अपनी माँ को देखकर मिली है। पर मेरी माँ मेरी माँ है। माँ एक ऐसा वृक्ष है, जिसकी नीचे बैठकर मेरी सारी थकान दूर हो जाती है। वह एक नदी है, जिसका जल पीकर मैं तृप्त हो जाता हूँ। यह बात मेरी नहीं है, किसी लेखिका ने अपनी माँ के लिए कही है। पर यह बात मुझे अपनी बात लगती है।

मैं और मेरी माँ एक बात को बार-बार दुहराते हैं। दुहराना जाप है। निरंतर समान गति चलता हुआ। माँ का बार-बार कहना, 'खा ले' मेरा जवाब देना, 'भूख नहीं है।' यह जबरदस्ती नहीं है। मनुहार है, जिसे नेहा एक बार पूछकर, यह मान कर छोड़ देती है कि भूख लगेगी तो खा लूँगा।

मेरी माँ बीमार है। वह कई दिनों से बीमार है। वह वर्षों से बीमार है।

मैं कहता हूँ, "माँ !"

वह कहती है, "हाँ !"

मैं फिर कहता हूँ, "माँ !"

वह फिर कहती है, "हाँ बेटा।" ना ही मैं 'माँ' के आगे कुछ कहता हूँ ना ही वह 'हाँ बेटा' के बाद कुछ बोलती है।

हमारा यह खेल चलता रहता है। नहीं, यह खेल नहीं है। यह तो माँ को पुकारना है, टोहना है, जाँचना है। यह देखना कि माँ ठीक तो है ना ! माँ सुन तो रही है ना ! इतनी बीमारी के बाद माँ में कुछ बचा हुआ तो है ना ! पर वह माँ है। उसमें सब कुछ बचा हुआ है। कैंसर ने शरीर को क्षत -विक्षत किया है। घायल तो मन भी हुआ है, पर वह मन जो बेटे की आवाज सुनता है, जो बेटे को देखता है, एकदम स्वस्थ है। पहले से ज्यादा सजग और बलवान।

मैं माँ से कहता हूँ, "ये नेहा जब देखो तब उकताई रहती है।"

माँ हँसती है। कहती है, "अभी माँ नहीं बनी ना !"

मैं कहता हूँ, "क्या बात करती हो ! नौ महीने का हो चला मुन्ना और यह माँ नहीं बनी ?"

माँ कहती है, "मुन्ने ने माँ बोलना कहाँ शुरू किया !"

मैं कहता हूँ, "माँ तुम भी..."

माँ मेरी बात सुने बिना ही कहती है, "धीरे-धीरे समझेगी।"

मैं जोश में आ जाता हूँ। कहता हूँ। "उस मेहतर को देख लो। वही जो रोज हमारे घरों का पाखाना साफ करता है। कूड़ा उठाता है। कितना दुर्गन्ध भरा काम है। पर जब देखो तब प्रसन्न रहता है। क्या गला पाया है उसने। कितना अच्छा गाता है। हर वक्त गाता रहता है, एक से बढ़कर एक पुराने सदाबहार गाने।"